हँसोड़

हाइनरिश ब्योल

हँसोड़

रघुवीर सहाय की तरह किसी कवि की मुश्किल भाषा हो या जनता, बकौल त्रिलोचन, तुलसीदास ही वह कवि हैं जो तमाम आलोचना/विमर्श के दायरे में लाखों के बोल सहकर भी जन-कवियों की सजग चेतना में रमे हुए हैं। जिस संसकिरत को कूप जल और भाखा को कबीर बहता नीर कहते हैं, उस कबीर की काव्य-भाषा बकौल आचार्य

रामचंद्र शुक्ल 'पँचमेल खिचड़ी' है। जिन तुलसीदास को उनके अगाध पांडित्य और कूपजल की भाषा संस्कृत में विद्वता के कारण अनेक 'विद्वान' लानत-मलामत करते हैं, उन तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में अवधी, ब्रज और संस्कृत ही नहीं, तुर्की और अरबी-फारसी तक के शब्दों का निःसंकोच होकर प्रयोग किया है! यह अजीब विडंबना है कि जिन कबीर की भाषा को अनेक भाषा से आए शब्दों के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'पँचमेल खिचड़ी' कहा, उन्हीं कबीर की भाषा 'पँचमेल खिचड़ी' का वास्तविक विकास तुलसीदास करते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि 'अगुनहिं सगुनहिं नहिं कुछ भेदा' कहने वाले तुलसी भाषा के प्रयोग के मामले में कबीर की 'पंचमेल खिचड़ी' के अधिक क़रीब नज़र आते हैं। तुलसी के पूर्ववर्ती कवि कबीर चूँकि अपनी भाषा और तेवर से संस्कृत को कूप जल और देशज भाषा को बहता नीर कह कर संस्कृति की धारा को एक नया मोड़ दे चुके थे, कदाचित् इसलिए संस्कृत में पांडित्य के बावज़ूद तुलसी ने काव्य-रचना के लिए संस्कृत के आचार्यों की राह न चुनकर मलिक मुहम्मद जायसी की काव्य-परंपरा की अवधी और सूर की काव्य-परंपरा की भाषा ब्रजभाषा का चयन किया। यह मुग़ल काल में बदलते हुए सांस्कृतिक मूल्यों की स्पष्ट स्वीकृति थी। कहना न होगा कि भाषा धर्म, आस्था, संस्कार और संस्कृति की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम है और भावनात्मक एकता के साथ-साथ वैचारिक आदान-प्रदान का एक सुदृढ़ सेतु भी।

संस्कृति ने अनेक बार यह साबित किया है कि केवल धर्म एक होने से स्थानीय भाषा और संस्कृति के प्रति नकार का भाव समाज को बहुत आगे तक लेकर नहीं जा सकता। दुनिया के मानचित्र पर बांग्लादेश का उदय इस बात का प्रमाण है कि एक धर्म होने के बावज़ूद बांग्ला-भाषा और बांग्ला-संस्कृति के प्रति उपेक्षा/अपमान के भाव को वहाँ के आमजन ने स्वीकार नहीं किया। किसी धर्म में एकेश्वरवाद के बाद भी उसके भीतर उपासना और रस्मो-रिवाज़ के विविध रूप हो सकते हैं, लेकिन प्रायः अनेक धर्मों में इस वैविध्य के स्वीकार को लेकर उतनी उदारता का भाव नहीं पाया जाता। हैरानी यह देखकर होती है कि कई बार ऐसी अनुदारता मध्यकाल से अधिक आधुनिक काल में दिखाई देती है। आधुनिक काल में प्रयत्नपूर्वक धार्मिक अस्मिता से जुड़े तमाम बिंब-प्रतीक और भाषा को अन्य धर्मों और अन्य धर्मों से संबद्ध भाषा से अलगाए रखने के प्रति भारतीय समाज में जैसी सतर्कता देखी जाती है, उसकी कोई

अवधारणा मध्यकालीन भारत में नहीं मिलती। जिन तुलसी को धूत, अवधूत, रजिपूत और जुलाहा कहलाने पर भी कोई मलाल नहीं, उन तुलसी ने प्रतिक्रयास्वरूप समाज को वह कुबोल, उपेक्षा और क्रोधाग्नि से निकले अपशब्दों का प्रसाद नहीं दिया, जो तत्कालीन भारतीय समाज ने उन्हें दिया था। ऐसा नहीं है कि संत कवि तुलसी वाकई इतने संत थे कि उनके भीतर क्रोध जैसी आम मानवीय कमज़ोरी नहीं थी और उनके भीतर अनीति और कुरीति के विरोध का साहस नहीं था। तुलसी ने तत्कालीन सत्ता की अनीतियों का पुरज़ोर विरोध किया है, व्यभिचारी प्रवृत्तियों के प्रति आक्रोश व्यक्त किया और तमाम तरह के पाखंडों को अनावृत्त करने में ज़रा भी नहीं हिचके। लेकिन इन तमाम चीज़ों के बीच इस बात का उन्हें बराबर ख़याल रहा कि अपनी किसी भी रचना में उन्होंने विरोधी धर्म के लोगों को निकृष्ट और हीन नहीं समझा। उनका यही दृष्टिकोण भाषा को लेकर भी है, जहाँ वे किसी भी भाषा के शब्द को अपनी अभिव्यक्ति के लिए चुनते समय शब्दों के कुल-गोत्र अथवा श्रेष्ठ या हीन होने के फेर में कभी नहीं पड़ते और अपनी अभिव्यक्ति के लिए जिस भी भाषा के जो शब्द उन्हें सर्वाधिक उपयुक्त लगता है, उसका इस्तेमाल वे कर लेते हैं।

तुलसी के राम जहाँ एक ओर 'रघुपति' (रघुपति कीन्हीं बहुत बड़ाई) हैं, 'रघुराज' (तुलसी जाने सुनि समुझि कृपासिंधु रघुराज) और 'कृपानिधान' (करि-करि सुरति कृपानिधान की), 'करुणानिधान' (अतिसय प्रिय करुणानिधान की) 'रघुवीर' (तुलसीदास चंदन घिसे, तिलक करे रघुवीर) हैं, वहीं वह तुलसीदास के लिए 'साहेब' (तुलसी सराहै रीति साहेब सुजान की) हैं, 'सिरताजु' (सूर सिरताज, महाराजनि के महाराज) हैं, 'साहि' (राम बोला नाम हौं गुलाम राम साहि को) और 'गरीबनेवाज' (कायर कूर कपूतन की हद तेउ गरीब नवाज नवाजे) हैं। तुलसी अपने को राम का 'चाकर' (हम चाकर रघुवीर के पठ्यौ लिखौ दरबार) और 'गुलाम' (लोक कहै राम को गुलाम ही कहावौं) भी कहते हैं। तुलसी अपने राम का स्मरण सिर्फ तत्सम शब्दों में ही नहीं, अरबी-फ़ारसी के शब्दों में भी करते हैं। क्योंकि उन्हें अपने काव्य में शब्दों की शुद्धता से अधिक उद्देश्य के प्रति समर्पण प्रिय है। यह कहना ग़ैर-मुनासिब नहीं होगा कि तुलसी अपनी भाषा, तेवर और अपनी भक्ति के तौर-तरीके के कारण रामायण या अध्यात्म रामायण की परंपरा के नहीं, फक्कड़ और मस्तमौला कवि कबीर की परंपरा के कवि हैं। जो भाषा, बिंब-प्रतीक आदि को किसी धर्म की परंपरा में

न देखकर, भारतीय संस्कृति की विशाल सांस्कृतिक भावभूमि में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते हैं। इस संदर्भ में रामनरेश त्रिपाठी ने बिल्कुल ठीक लक्षित किया है, 'तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में इतने अधिक अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया है, जितना शायद हिंदी के किसी पुराने और नए कवि ने नहीं किया है।' [1]

'राम से बड़ो है कौन मो सो कौन छोटो' मानने वाले तुलसी भारतीय समाज में दो संस्कृतियों और दो भाषाओं के मेल से बन रहे नए समाज की भाषा के असल प्रतिनिधि कवि हैं। बावज़ूद इसके कि भक्तियुगीन अनेक संत कवियों ने ईश्वर के सभी उपलब्ध नामों का आदर किया और उनमें समान रूप से ईश्वर के हर नाम में परम तत्व के दर्शन किए। अपनी आस्था और धर्म के प्रति अटल होने के बावज़ूद भक्तिकालीन संत कवियों की सर्व-समावेशी दृष्टि को समझने के बाद भक्तिकालीन संतकवियों की भाषा की वह परतें भी खुलने लगती है, जिसे प्रायः सधुक्कड़ी कहा जाता है। प्रायः कबीर, सूर, तुलसी और मलूकदास-जैसे संत कवियों की भाषा पर इस दृष्टिकोण से बहस नहीं होती कि उनकी भाषा किस तरह अपने आप में तथ्य का पूरा इतिहास प्रस्तुत करती है। भारतीय समाज में मुसलमानों की संस्कृति, भाषा और शब्दावली आमजन के बोलचाल और जीवन-चर्या का हिस्सा बन चुकी थी। कोई भी भाषा धर्म, आस्था और संस्कारों की अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम होती है। भाषा मूलतः संस्कृति का एक अंग है और संस्कृति अपने को भाषा के माध्यम से जितना अभिव्यक्त करती है, उतना शायद ही किसी अन्य माध्यम से करती हो। कबीर और तुलसीदास की भाषा इस बात का प्रमाण है कि अरबी-फारसी के शब्द तत्कालीन ब्रज और अवधी में पूरी तरह मिश्रित हो चुके थे और उन कथित 'विधर्मी' शब्दों को आमजन की भाषा से पृथक करना लगभग असंभव था।

कबीर ने अपने ईश्वर को जिन प्रिय शब्दों के साथ सर्वाधिक स्मरण किया है, वह शब्द है 'साहिब'। उसके बाद कबीर की कविता में 'गरीब नवाज' शब्द भी मिलता है। 'सिरताज' शब्द का प्रयोग तो अनेक संत कवियों ने किया है। मसलन मलूकदास ने कहा है, 'कहै मलूक मेरो प्रान रमइया, तीन लोक ऊपर सिरताज'[2] , वहीं सूरदास ने सूरसागर में इस शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है, 'सूर स्याम तहाँ स्याम सबनि कौ दिखियत है सिरताज'। जिन केशवदास को 'कठिन काव्य का प्रेत' कहकर

अभिशापित किया गया, उन केशवदास ने भी 'सिरताज' शब्द के प्रयोग से परहेज़ नहीं किया, 'कोटि रतिराज ब्रजराज सिरताज की सौं'। तुलसी जहाँ अपने राम को सिरताज कहते हैं, वहीं सूर और केशवदास कृष्ण को सिरताज मानते हैं। शब्द एक लेकिन प्रयोक्ता और आराध्य अलग-अलग!

भागवत संप्रदाय से संबद्ध काव्य में लगभग सभी स्थानों पर 'सिरताज' शब्द का प्रयोग शिरोमणि के अर्थ में हुआ है। सूरदास के काव्य में 'पतितन सिरताज' और 'सबनि कौ सिरताज' शब्द का प्रयोग तो मिलता ही है, तुलसी की 'कवितावली' में 'सूर-सिरताज' के रूप में इसका प्रयोग मिलता है। कमाल की बात यह है कि मध्यकाल से लेकर आज तक इस शब्द का अर्थ क्षरित नहीं हुआ है और आज भी उसी रूप में इस शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। कृष्ण को पति के रूप में मानने वाली मीरा तक ने इस शब्द का उसी रूप में इस्तेमाल किया है, 'मैं अबला बल नाहिं गुसाईं तुमहि मेरे सिरताज'। इसी तरह 'साहब' और 'गरीब नवाज' शब्द का प्रयोग सिर्फ तुलसीदास ने ही अपने आराध्य के लिए किया हो ऐसा नहीं है। सूरदास ने भी 'सूरसागर' में इन दोनों शब्दों का बार-बार प्रयोग किया है। मसलन, 'पोषन भरन बिसंभर साहब' और 'नई न करत कहत प्रभु तुम हौ सदा गरीब नवाज'। सूर की तरह तुलसीदास ने 'कवितावली' में 'गुलाम' और 'सरनाम गुलाम' के प्रयोग से तत्कालीन समाज में इन शब्दों की स्वीकार्यता और ग्राह्यता पर मुहर लगाई है, 'लोक कहै राम को गुलाम ही कहावौं' और 'सुभाउ समुझत मन मुदित गुलाम को'। गुलाम से भी कहीं आगे बढ़कर तुलसी कहते हैं, 'तुलसी सरनाम गुलाम है राम को।' तुलसीदास ने तत्कालीन सत्ता से प्रभावित होकर अपने राम के लिए तत्कालीन बादशाहों के लिए प्रयुक्त अरबी-फारसी की शब्दावली का इस्तेमाल किया होगा, बहुत तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। मसलन फ़ारसी का एक शब्द है 'शाह', जो फ़कीर और बादशाह दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जहाँ एक ओर शाह वलीउल्लाह, शाह बुरहान, शाह अब्दुल अज़ीज़ के नाम में 'शाह' है, तो दूसरी ओर 'शाह' शब्द मुग़ल बादशाह जहाँदारशाह और बहादुरशाह के नाम का भी हिस्सा है। 'गरीबनवाज' शब्द तो अजमेर के सूफी संत ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के लिए-जैसे रूढ़ हो चुका है। इन उदाहरणों से समझा जा सकता है कि चाहे तुलसीदास हों या सूरदास, वे अपने युग की संस्कृति और समाज से

कटकर एकदम 'समाज-निरपेक्ष' होकर महज भक्ति-भाव में ही लीन होकर नहीं जी रहे थे!

तुलसी के काव्य में इस्लामिक आस्था और प्रशासनिक कार्यों से संबद्ध अरबी-फ़ारसी के शब्द भी विपुल संख्या में मौज़ूद हैं। 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' में ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। मसलन, 'राजी' (कृष्ण कृपालु भगति पथ राजी), 'रजाइ' (राम की रजाइ तें रसाइनी समीर सून), 'दीन' (जो करता, भरता, हरता, सूर साहेबु दीन-दुनी को), 'गनिहि' (गनिहिं गुनिहिं, साहब लहै सेवा समीचीन को), 'गरीबी-मिसकीनता' (लाभ भोग छेम की गरीबी मिस्कीनता), 'करामाति' (कासी करामाति जोगी जागी मरद की), 'मनसहि' (प्रभु मनसहि लयलीन मनु चलत बाजि छबि पाव), 'जमात' (बहु जिनस प्रेत पिसाच जोगि जमात बरनत नहिं बनै), 'खलक' (पैअत न छत्री-खोज खोजत खलक मैं), 'हराम' (गिरो हिये हहरि-हराम हो हराम हन्यो), 'रहम' (राम के बिरोधे बुरो बिधि हरिहरहू को सबको भलो है राजा राम के रहम हीं), 'मसीत' (माँगि के खइबो मसीत को सोइबो), 'कहरू' (डरत हौं देखि कलि काल को कहरू), 'मुकाम' (तुलसी जग जानियत नाम ते सोच न कूच मुकाम को), 'इताति' (निसि बासर ताकहँ भलो मानै राम इताति) और 'कसम' (भुजा उठाइ साख संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी) - जैसे शब्दों का मूल अरबी भाषा में है, लेकिन तुलसी ने अपने काव्य में जिस तरह आत्मसात करके इन शब्दों का प्रयोग किया है, उसे देखकर भला कौन कह सकता है कि ये विदेशज शब्द (अरबी) हैं? इसी प्रकार 'कवितावली', 'विनयपत्रिका' और 'रामचरितमानस' में तुलसी ने फ़ारसी के अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, मसलन, 'बागबान' (मारे बागवान ते पुकारत देवान गे), 'पाक' (अंजनीकुमार सोध्यो राम पानि पाक हौं), 'नेब' (भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम को नेब), 'बकसीस' (बखसीस ईस जू की खीस होत देखिअत), 'सजाइ' (तौ बिधि देइहि हमहिं सजाई), 'दरिया' (दसरत्थ को दानि दया दरिया) और 'गुनह' (गुनह लखन कर हम पर रोषू)-जैसे शब्दों का मूल उत्स मुसलमानों की भाषा और धार्मिक आस्था से संबद्ध है!

इस्लाम में 'दीन-ओ-दुनिया' जैसे शब्द-युग्म का प्रयोग लोक-परलोक या कहें 'दुनिया व आख़िरत' के लिए होता है, जबकि जिस सनातन धर्म से तुलसीदास का संबंध है,

उस धर्म में 'यौम-ए-आख़िरत' की कोई अवधारणा नहीं है। तब तुलसी ने अपने काव्य में 'साहेबु दीन-दूनी को' कहकर जिस राम को दुनिया व आख़िरत का मालिक बताया है, वह क्या इस्लामिक आस्थाओं को बहुत गहराई से जाने बिना संभव है? इसी प्रकार तुलसी ने जिस 'हराम' शब्द का प्रयोग किया है, उस 'हराम' और 'हलाल' शब्द का सीधा संबंध इस्लामी शरीअत से है। हिंदू धर्म में हराम और हलाल की कोई अवधारणा नहीं है। अरबी का एक शब्द है 'जमात', जिसका प्रयोग तुलसी ने किया है। इस शब्द का एक सामान्य अर्थ होता है झुंड या समूह। आधुनिक काल में आमतौर पर कट्टर मुसलमानों के लिए 'जमाअती' शब्द का प्रयोग होता है। कई बार समय के अनुसार शब्दों के अर्थ बनते-बिगड़ते हैं, क्षरित होते हैं, लेकिन ऐसा लगता है कि तुलसीदास के समय में भी 'जमाअती' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया जाता था, जिस अर्थ में आज किया जाता है। शायद इसीलिए तुलसी ने 'जमात' शब्द का प्रयोग योगियों, पिशाचों और प्रेतों के साथ किया है। प्रसंगवश यहाँ यह उल्लेख करना समीचीन होगा कि केशवदास ने भी अपनी काव्य-कृति 'कविप्रिया' में इस शब्द का प्रयोग किया है - 'जम की जमाति सी कि जामवंत को सो दल।' तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक लोकवृत्त में प्रचलित अरबी-फ़ारसी के शब्द भक्तिकालीन संत कवियों के युग का सामाजिक अध्याय बनकर उनके काव्य में प्रयुक्त हुए हैं और इन शब्दों के सहारे सूर-तुलसी-केशवदासकालीन सामासिक संस्कृति को देखने का एक नया गवाक्ष खुलता है!

मध्यकालीन कवि सूरदास, तुलसीदास, मीरा और केशवदास के समय में हिंदुस्तान की सत्ता पर पर मुग़ल शासक काबिज थे। इसलिए सत्ता की भाषा और उसके साहित्य का प्रसार पूरे लोकवृत्त में था। भक्तिकालीन कवियों की भाषा में प्रयुक्त हुए अरबी-फारसी के शब्द ही नहीं, उस समय के फारसी कवियों की शायरी से संत कवि किसी-न किसी रूप में परिचित थे, ऐसा तत्कालीन कविता को देखकर लगता है। अरबी-फारसी की लिपि से यदि भक्तिकालीन संत कवि अनजान रहे हों, तब भी इन भाषाओं के साहित्य की सुगंध उन तक अवश्य पहुँची होगी - ऐसा तुलसीदास की अनेक काव्य-पंक्तियों को देखकर कहा जा सकता है। तुलसी के पास एक निश्छल और संवेदनशील हृदय था और उनकी सभी काव्य-कृतियाँ सांस्कृतिक संवेदना से युक्त हैं। तुलसी का समय मुग़ल सत्ता के उत्थान का समय है और उनकी

काव्य-रचना का उत्कर्ष काल भी। जब सत्ता और जाग़ीरदारी प्राप्त करने के लिए लोग धर्म-ईमान सब छोड़ रहे थे, तुलसी ने भारतीय समाज में मौजूद सामासिक संस्कृति को नहीं छोड़ा, जिसकी भाषिक उपस्थिति भारतीय समाज में मौज़ूद थी। भक्तिकाल के अंतर्गत चाहे कृष्णभक्त कवि हों या रामभक्त, उनके काव्य में 'गुलाम' और 'चाकर' जैसे शब्दों का प्रयोग सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। चूँकि अपने आराध्य के अतिरिक्त भक्तिकालीन कवि किसी और के गुलाम या चाकर नहीं हो सकते थे, न किसी और का दासत्व स्वीकार कर सकते थे, इसलिए इन शब्दों के प्रयोग को लेकर ये नहीं कहा जा सकता कि ये शब्द उनके काव्य में 'गुलाम-प्रथा' के प्रभाव में आए हैं। तुलसी के काव्य में अरबी-फ़ारसी के जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे बहता नीर की तरह आए हैं - सहज और आत्मीय रूप में! भक्तिकाल के संत कवियों ने जब अपने ईश्वर के सामने राजनीतिक सत्ता के सत्ताधीशों की कोई परवाह नहीं की, तो शास्त्र-पुराण और व्याकरण के भाषाधिपतियों की परवाह भला वे क्यों करने लगे। संत कवियों का सबसे बड़ा ध्येय और उपलब्धि थी उनकी भक्ति। कबीर के राम भले दशरथ-सुत राम न हों, लेकिन तुलसी के राम दशरथ-सुत और अवधपुर-राजा होकर भी लोकमंगलकारी और सबके प्रिय थे - जिनकी दृष्टि में कोल, भील, किरात, यवन, केवट को लेकर ऊँच-नीच का कोई भेद नहीं है। ज़ाहिर है ऐसे राम भक्त तुलसी की दृष्टि में कोई शब्द भला अपवित्र कैसे हो सकता है? कोई भी शब्द सनातन धर्म या इस्लाम से संबद्ध होने के कारण भला स्वीकार्य या त्याज्य कैसे हो सकता है? इसलिए भाषा को दरेरा देकर अपनी बात कहलवा लेने का हुनर केवल कबीर के पास ही नहीं, भक्तिकाल के अन्य कवियों के पास भी था।

तुलसीदास का जन्म सन 1532 के आसपास हुआ माना जाता है और मुग़लशासक की तीसरी पीढ़ी के शासक जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर का जन्म 15 अक्तूबर, 1542 ई. में। यानी तुलसीदास, अकबर से लगभग दस वर्ष बड़े थे और अकबर से अधिक अध्ययन और अनुभव के होने कारण भारतीय संस्कृति और मुग़लकालीन भाषा को तुलसी थोड़ा बेहतर ढंग से जानते थे। फ़ारसी उस समय की राजकाज की भाषा थी, इसलिए स्वाभाविक रूप से तत्कालीन समाज में राजदरबार और मुग़ल शासन से जुड़े हुए फ़ारसी के शब्द आमजन के बीच प्रचलित और स्वीकृत थे। जिन तुलसी ने संस्कृत भाषा-साहित्य में अगाध पांडित्य के बावज़ूद जनभाषा अवधी और ब्रज में

काव्य-रचना की, वे जनमानस में प्रचलित तत्कालीन शब्दों के प्रयोग से भला किस तरह बच सकते थे? जिस फ़ारसी की प्रशासनिक और राजनीतिक शब्दावली आज तक हमारी भाषा में बने/बचे हुए हैं, उस फ़ारसी की हैसियत तत्कालीन मुग़ल शासन काल में क्या रही होगी, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। 'कवितावली' में प्रयुक्त राजकाज और प्रशासन से जुड़े कुछ शब्दों को देखिये, 'दरबारा' (भइ बड़ि भीर भूप दरबारा), 'देबान' (मारे बागवान, ते पुकारत देबान गे), 'सरखतु' (तुलसी निहाल कै कै दियो सरखतु है), 'सहन भंडार' (जिय की परी संभार सहन भंडार को), 'बैरक' (दीजै भगति बाहँ बैरक ज्यों सुबस बसै अब खेरो), 'खासमहाल' (कौने ईस किए कीस भालु खास माहली), 'खवास' (खोजि कै खवासु खासो कूबरी सी बाल को), 'नकीब' (बोलत पिक नकीब गरजनि मिस मानहु फिरत दोहाई), 'उमिरदराज' (उमरि दराज महाराज तेरी चाहिए), 'मंसबदार' (तुलसी अब का होहिंगे नर के मंसबदार) और 'रैयत' (रैयत राज समाज घर तन धन धरम सुबाहु) जैसे शब्द की जन-स्वीकार्यता का पता चलता है।

तुलसीदास मुग़ल बादशाह अकबर के शासन काल में प्रचलित प्रशासनिक शब्दावली के सटीक प्रयोग से पूरी तरह परिचित थे। जिन शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है, उसके अर्थ और मर्म दोनों से वे भली-भाँति परिचित थे। अपनी रचना में उन्होंने जिस 'दरबारा' शब्द का प्रयोग किया है, वह मुग़लिया दस्तावेज़ों में मूल रूप से 'दरबार-ए-आम' के रूप में प्रचलित था। जिसका अर्थ होता है कोई बाहरी जगह। इसी तरह अरबी मूल का शब्द 'दैवान' है, जिसका अरबी में तो इसी तरह उच्चारण होता है, लेकिन फ़ारसी में उच्चारण होता है 'दीवान', जिसका आशय कचहरी या न्यायालय से है। तुलसी से पूर्व अनेक मुस्लिम शासकों, मसलन इब्राहीम लोदी, बाबर और हुमायूँ का शासन हिंदुस्तान में था, इसलिए तुलसी से बहुत पहले मध्यकालीन भारतीय समाज और उनके पूर्ववर्ती कवियों के बीच 'दरबार' और 'दीवान' शब्द ख़ूब प्रचलित थे। सूरदास ने भी 'दीवान' शब्द का प्रयोग किया है, 'भक्त ध्रुव कौं अटल पदवी, राम के दीवान'। मुग़लकालीन सत्ता संरचना में वजीर के बाद दीवान का ओहदा काफ़ी अहम माना जाता था और अकबर के समय में 'दीवान-ए-आला', 'दीवान-ए-सूबा', 'दीवान-ए-खालेसा', 'दीवान-ए-फौजदारी' और 'दीवान-ए-सरफ़े-ख़ास' जैसे अनेक महत्वपूर्ण पद थे। इसी तरह तुलसी ने एक

दिलचस्प प्रशासनिक शब्द 'सरखत'[3] का प्रयोग किया है। सरखत दरअसल वह पत्र था जो सरकारी कर्मचारी को पहले दिन लिखा जाता था और जितना भी द्रव्य उसे दिया जाता था उसी पर वसूल किया जाता था। इस शब्द के 'आईन-ए-अकबरी' में मिले संदर्भ के अनुसार सरखत जागीर प्रदान करने का एक फ़रमानचा था, जिसे 'फ़रमाने-सब्त' कहते थे। यह सरखत प्रधान बख्शी 'तालिका' के बदले में देता था और फिर यही सरखत बादशाह की सेवा में भेजा जाता था।[4] इसी प्रकार तुलसी ने 'मंसबदार' शब्द का प्रयोग किया है। मुग़ल काल में 'मंसब' दरअसल एक ओहदा या कहें रैंक होता था, जिस पद पर आसीन अधिकारी को 'मंसबदार' कहते थे। अबुल फज़ल के मुताबिक तुलसीदास के समकालीन मुग़ल शासक अकबर के युग में सबसे बड़े मंसबदार शहज़ादा सलीम थे, जिन्हें दस हजार का मंसब मिला हुआ था। शहज़ादा मुराद को आठ हज़ार और शहज़ादा दानियाल को सात हज़ार का मंसब प्राप्त था। उस समय के 415 मंसबदारों में 51 मंसबदार हिंदू थे।[5]

संत कवि तुलसी के काव्य में प्रशासन तथा नगर-प्रशासन से संबंधित अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग कुछ कम दृष्टिगोचर होता है, कदाचित इसलिए क्योंकि इन विभागों के लोगों से उनका साबका न के बराबर पड़ता होगा। तत्कालीन प्रशासन से संत कवि का क्या लेना-देना रहा होगा! एक शब्द है 'शहर' (बूझिए न ऐसी गति संकर सहर की) और जब आप शहर जाएँगे तो कुछ ख़रीदते हुए 'दाम' (करम जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधिन दाम को) तो चुकाएँगे ही। प्रशासन से जुड़ा हुआ एक ऐसा शब्द, जो तुलसी के काव्य में भी उसी तरह प्रयुक्त हुआ है, वह शब्द है 'कोतवाल' (कालनाथ कोतवाल दंड करि दंडपानि सभासद गनत से अनित अनूप), जिसके मूल उत्स के बारे में मध्यकालीन काव्य-भाषा के मर्मज्ञ विद्वान वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि 'कोट्टपाल' संस्था का आविर्भाव हर्ष के समय में ही हो गया था।[6] एक और दिलचस्प तथ्य यह है कि जिन तुलसी के काव्य में नगर तथा नगर प्रशासन के बारे में अन्य क्षेत्रों के मुकाबले कम शब्द मिलते हैं, उन्हीं तुलसी के काव्य में बादशाह की सेना, युद्धास्त्र आदि के बारे में अनेक शब्द मिलते हैं। इससे पता चलता है कि उन्हें तत्कालीन शासक के शस्त्रागार और लश्कर को देखने का अवसर अनेक बार अवश्य मिला होगा, वरना इस क्षेत्र से संबंधित उनकी शब्दावली इतनी समृद्ध न होती। उदाहरण के लिए देखें, 'फौज' (हहरानी फौजें महरानी

जातुधान की) शब्द का प्रयोग तुलसी ने एकवचन फौज तथा बहुवचन फौजें दोनों ही रूपों में किया है। फौज दरअसल अरबी भाषा का शब्द है, जो सेना के लिए प्रयुक्त होता है। इसी शब्द में 'दार' शब्द जोड़कर 'फौजदार' शब्द बनाते हैं, जिसका सुंदर प्रयोग केशवदास ने किया है, 'फोजदार सिकदार सूर सरदार सहायक'।

'तुपक', 'तोपची' और 'दारू' यानी बारूद (काल तोपची तुपक महि दारू अनय कराल)। तुपक तथा तोपची शब्द फ़ारसी भाषा से तुर्की में आए हुए शब्द हैं। तुपक तोप को कहते हैं और तोपची तोप चलाने वाले को कहा जाता है। कालांतर में आमजन के बीच तुपक से अधिक तोप शब्द प्रचलित हुआ और फ़ारसी में इसका थोड़ा-सा अलग रूप तुपक की जगह 'तुफंग' प्रचलित हुआ। तुपक तथा तोप शब्द का प्रयोग भक्तिकाल के अनेक कवियों ने किया है और इस शब्द के प्रयोग के अनेक उदारण मिल जाते हैं। उदाहरण के तौर पर पहले सिख गुरु, गुरु नानक कहते हैं, 'कोटिन तुपक करोरन बाना सहसन अजगर चलै कमाना'[7] और 'वीर चरित्र' में केशवदास कहते हैं, 'तुपकै सर छुट्टहि तरुबर टुट्टहिं फुट्ठहिं काय कवच्च घने'। 'पलीता' और 'गोला' ('पाप पलीता कठिन गुरु गोला पुहुमी पाल' - तुलसी और 'प्रेम पलीता सुरति नालि करि, गोला ज्ञान चलाया' - कबीर), 'तरकस' और 'तीर' (तन तरकस से जात है साँस सरीखे तीर), 'कमान' (बान कमान निषंग कसें), 'सीपर' (लागति सांगि बिभीषन पर सीपर आपु भये हैं), 'ताजी' (पारावत मराल सब ताजी), 'पील' (पील-उद्धरन सील सिंधु ढील देखियत), 'कोतल' (कोतल संग जाहिं डोरिआए), 'जीन' (रुचि-रुचि जीन तुरंग तिन्ह साजे) और 'जंजीर' (झूमत द्वार अनेक मतंग जंजीर जरे मद अंबु चुचाते)। तुलसी के काव्य में प्रयुक्त ये तमाम शब्द इस बात की तस्दीक करते हैं कि मध्यकालीन भारतीय समाज में फौज, युद्ध, सेना और हथियार से जुड़े हुए तमाम शब्द आमचलन में थे, क्योंकि इससे यह भी ध्वनित होता है कि युद्ध के बादल मध्ययुगीन समाज में बराबर छाये ही रहते थे।

इन क्षेत्रों के अतिरिक्त तुलसी सहित भक्तिकाल के अनेक कवियों के काव्य में तत्कालीन वाद्य यंत्र, खेल-कूद, व्यवसाय, व्यवसायी तथा कला-कौशल से संबंधित क्षेत्रों की शब्दावली का इस्तेमाल भी भरपूर हुआ है। जिसके बारे में विस्तार से फिर कभी किसी अगले लेख में बात करेंगे। फिलहाल इस आलेख में जितने क्षेत्रों से

संबंधित शब्दों की चर्चा की गई है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि तुलसी अपने युग के समाज, राजनीति और जीवन के तमाम क्षेत्रों के प्रति पूरी सजग और जागरूक थे। मिथकीय राम के चरित गायन करते समय भी वे तत्कालीन सत्ता को यह चेतावनी देने से परहेज़ नहीं करते कि 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अबसि नरक अधिकारी।।' और उनकी यह दो पंक्तियाँ भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान लोकप्रिय नारे के तरह आंदोलनकारियों द्वारा व्यवहृत किया गया। मनुष्य की बहुत-सी प्रवृत्तियाँ मध्यकाल से लेकर आज तक किस तरह निरंतरता में कायम है, इसे यदि देखना हो तो 'रामचरितमानस' के बालकांड में उनकी खल-वंदना देखी जा सकती है।

अनेक प्रकार के खल, दुष्ट और उनकी प्रवृत्तियों की पूरी पहचान बालकांड की काव्य-पंक्तियों के माध्यम से की जा सकती है। दूसरी ओर कविता और कला की चर्चा जब तुलसी करते हैं, तो कवियों की आत्ममुग्धता और आत्मरति की चर्चा करना भी नहीं भूलते, 'निज कबित्त केहि लाग न नीका। सरस होउ अथवा अति फीका।।' ...और भक्तिकालीन काव्य-परिदृश्य पर बात करते हुए जिन तुलसी की कविता पर हमने इतनी बातें की हैं, वे तुलसी अपने को कवि के दौर से ही बाहर करते हुए कहते हैं, 'कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे' और इतना महत्वपूर्ण लिखते हुए भी उनकी इच्छा देखिये कि कहते हैं, 'कबि न होहुँ नहिं चतुर कहाबहुँ। मति अनुरूप राम गुन गाबहुँ।' ऐसे संत कवि तुलसीदास की रचनाएँ भारतीय संस्कृति में प्रवाहित मूलभूत एकता की अंतर्धारा का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हैं। दरबारी इतिहास से ऐतिहासिक घटनाओं की थोड़ी तथ्यपरक सूचना तो मिल सकती है, लेकिन मिथकीय कथा रचते हुए भी भक्तिकाल के कवियों ने अपने समय के समाज और राजनीति को किस तरह चित्रित किया, इसका बेहतरीन नमूना कवि तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है।